पर्यावरण प्रदूषण और जैन दृष्टि

–डॉ. सुषमा

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में अन्यतम है। इसका प्रारम्भ कब और किसके द्वारा हुआ अथवा इस संस्कृति का बीजवपन किन द्वारा हुआ, इस प्रसंग में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। एक परम्परा वेदों को आदि ज्ञान मानती है और उन्हें ही भारतीय संस्कृति का मूल स्वीकार करती है। इसके विपरीत दूसरी परम्परा सृष्टि को अनादि मानकर वर्तमान संस्कृति का प्रारम्भ आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव से मानती है।

हम प्रायः अनेकानेक प्राचीन ग्रन्थों में ऋषि-मुनि शब्दों का प्रयोग एक साथ प्राप्त करते हैं। 'ऋषि' शब्द वैदिक परम्परा के तत्त्वज्ञानियों के लिए प्रयुक्त और 'मुनि' शब्द जैन परम्परा में आदरणीय तत्त्वदर्शियों के लिए व्यवहृत होता है। इन दोनों शब्दों का युग्म के रूप में प्रयोग देखकर यह मानना अनुचित न होगा कि भारतीय संस्कृति के बीज वपन से लेकर अधुनातन विकास पर्यन्त दोनों परम्पराओं का समान रूप से योगदान रहा है। दोनों की अपनी-अपनी मान्यताएँ इतर परम्परा में इस प्रकार प्रतिबिम्बित हुई हैं कि उन्हें बहुत बार अलग से देख पाना सम्भव नहीं है। अतएव मैं वैदिक परम्परा में प्राप्त कुछ संकेतों को भी जैन दृष्टि से पृथक् नहीं सोच सकती।

आलेख के प्रस्तुत विषय पर्यावरण की सीमा बहुत व्यापक है। इसमें जल, वायु, पृथ्वी, आकाश (ध्वनि), ऊर्जा और मानव चेतना आदि सभी को संगृहीत किया जाता है। भारतीय संस्कृति के प्राचीन इतिहास ग्रन्थ महाभारत में पर्यावरण के अन्तर्गत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ की गणना की गयी है।

वैदिक परम्परा में द्यु. अन्तरिक्ष, पृथिवी, जल, औषधि, वनस्पति और इनके बाद विश्वदेव नाम से पर्यावरण के अन्य अंगों की ओर संकेत किया गया है। एवं इन्हें निर्दोष तथा शान्तिदायी (उपयोगी) बनाये रखने की कामना की गयी है। प्रकृति के उन तत्त्वों में विजातीय हानिकारक तत्त्वों के मिश्रण से प्रायः प्रदूषण उत्पन्न होता है, जिसे वर्तमान में पर्यावरण प्रदूषण के नाम से जाना जाता है।

आधुनिक विचारकों ने पर्यावरण प्रदूषण के सामान्यतः आठ विभाग किये हैं–१. जल प्रदूषण, २. वायु प्रदूषण, ३. मृदा प्रदूषण, ४. ध्वनि प्रदूषण, ५. रेडियोधर्मी, ६. जैव प्रदूषण, ७. रासायनिक प्रदूषण और ८. वैद्युत प्रदूषण।[१] पर्यावरण प्रदूषण के इस विभाजन में प्रथम तीन तो वे आधार हैं, जिनमें प्रदूषण होता है तथा शेष पांच प्रदूषण के कारण हैं। पर्यावरण प्रदूषण के इन आठ विभागों में वैचारिक प्रदूषण का (मन, बुद्धि और अहंकार के प्रदूषण) का परिगणन नहीं हुआ है। यद्यपि प्रदूषण के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्व इसका ही है। इसके अप्रदूषित रहने पर शेष के प्रदूषण की सम्भावना कम से कम होती है। वैचारिक प्रदूषण के अभाव से व्यक्ति निरन्तर सचेष्ट रहेगा कि उसके किसी भी व्यवहार से जल, वायु, भूमि, अन्तरिक्ष, द्यु आदि कोई भी प्रदूषित न होने पाएं। इस प्रकार वैचारिक प्रदूषण को सम्मिलित कर लेने से उसके भेदोपभेदों के कारण पर्यावरण प्रदूषण के अनेक प्रकार हो सकते हैं।

पर्यावरण प्रदूषण का नाम लेने पर स्थूल रूप से हमारा ध्यान जल, वायु, पृथ्वी, अन्तरिक्ष आदि की ओर जाता है। प्राचीनकाल में जब भारतीय संस्कृति अपने तेजस्वी रूप में प्रतिष्ठित थी, उसके फलस्वरूप जन-जन के विचारों में शुद्धता, समता, परोपकारिता आदि गुण विद्यमान थे, उस समय पर्यावरण प्रदूषण की समस्या नहीं रही है। उस काल में अग्नि, जल, वायु पृथ्वी आदि को देवता के रूप में अथवा माता के रूप में स्वीकार किया जाता था उनको परिशुद्ध बनाये रखने के लिए समाज अत्यन्त गतिशील था।[२]

वर्तमान समय में जब मानव विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति करता हुआ प्रकृति और उसके अंग-पृथ्वी आदि के प्रति मातृत्व की भावना को भुला बैठा है और उस पर विजय प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठा है, तो अनजाने ही उसके हाथों से प्रकृति के सभी अंगों का प्रदूषण प्रारम्भ हो गया है। फलतः आज प्रकृति का प्रदूषण इतना बढ़ गया है कि विचारशील वैज्ञानिक प्रदूषण के प्रसंग में चिन्तित हो उठे हैं और वे अनुभव करने लगे हैं कि प्रदूषण के फलस्वरूप पृथ्वी का तापमान बढ़ने लगा है। यदि यही क्रम रहा तो सम्भावना है कि अगले २७ वर्षों के अन्दर पृथ्वी के तापमान में न्यूनतम दो डिग्री सेन्टीग्रेड की वृद्धि हो जायेगी, परिणामतः हिम पिघलकर जल के रूप में समुद्रों में इतना पहुँचेगा कि मालद्वीप जैसे द्वीप समुद्र की गोद में समा जायेंगे। भारत, बांगला देश और मिश्र जैसे समुद्रतटीय देशों का अस्तित्व भी संदिग्ध हो जायेगा। विगत् कुछ वर्षों में भी इस उष्णतावृद्धि के फलस्वरूप जो समुद्री तूफान बार-बार आये हैं, उनमें १९६३ में २२००, १९६५ में ५७००, १९७० में ५०,००० और १९८५ में १०,००० व्यक्ति अपना जीवन खो बैठे हैं। २९-३० नवम्बर १९८८ का तूफान भी प्रलयकारी रहा है। इनके अतिरिक्त अन्य छोटे-बड़े तूफानों में भी जो धन-जन की हानि हुई है, वह अत्यन्त भयावह तथा चौंकाने वाली है।

पर्यावरण प्रदूषण के मूल कारण–जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि स्थूल पर्यावरण प्रदूषण के पीछे वैचारिक प्रदूषण मुख्य कारण हुआ करता है और उस वैचारिक प्रदूषण में भी संकुचित स्वार्थ, लोभ, विषयवासना और उसकी पूर्ति के लिए साधन एकत्र करने की प्रवृत्ति कारण हुआ करती है। फलस्वरूप प्रदूषित विचारों वाला मानव जीवहिंसा, मित्रवृत्ति का नाश, असंतुलित तीव्र औद्योगीकरण, शहरीकरण आदि में प्रवृत्त होता है।

जीवहिंसा–प्रकृति ने विविध जीव-जन्तुओं को इस रूप में उत्पन्न किया कि वे कभी परस्पर शत्रुता के कारण, कभी अपने शरीर से निकलने वाली गन्ध के कारण प्रकृति का सन्तुलन बनाये रखते हैं। उदाहरणार्थ, कृषि को हानि पहुँचाने वाले अनेक कीड़ों को मेढ़क और चूहे आदि समाप्त करते हैं किन्तु उनकी वृद्धि भी अधिक हानिकर हो सकती है, इसलिए प्रकृति ने सर्पों को उत्पन्न कर दिया है, जो चूहों और मेढ़क आदि को आहार बनाकर संतुलन बनाये रखने में अपना योगदान करते हैं। सर्पों की अधिकता भी भयावह हो सकती है, इसलिए मयूर, चील्ह आदि पक्षी प्रकृति ने उत्पन्न किये हैं, जो सर्पों की संख्या को भी नियंत्रित किये रहते हैं। वनों में उत्पन्न घास कई बार महत्त्वपूर्ण औषधियों और वृक्षों की वृद्धि में बाधक होती है, इसलिए प्रकृति ने हरिण बनाये हैं, जो चरकर बाधक तृणों को समाप्त करते हैं। किन्तु हरिणों की संख्या यदि अधिक हो जाए, तो वे खेतों की फसलों और तमाम उपयोगी पेड़-पौधों को नष्ट कर सकते हैं, उनके तथा इसी प्रकार अन्य पशुओं के नियमन के लिए प्रकृति ने भेड़िया, चीता, तेन्दुआ, बाघ और सिंह जैसे मांसाहारी पशुओं की रचना की है। इनमें सर्वाधिक शक्तिशाली सिंहों का उपद्रव पीड़ादायी न हो, इसलिए एक तो उनकी संख्या कम रहती है एवं दूसरे प्रकृति ने उनका स्वभाव ऐसा बना दिया है कि वे क्षुधित होने पर ही किसी प्राणी की हिंसा करते हैं, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार जल में मल को समाप्त करने के लिए प्रकृति ने छोटी-छोटी मछलियों, केकड़ों, शंख, कछुआ आदि जलचरों की रचना की है और उन जलचरों में भी उत्तरोत्तर दीर्घकाय तिमि, तिमिंगिल, तिमिंगिलगिल और ह्वेल आदि जलचरों को भी उत्पन्न किया है।

सामान्य पर्यावरण को सुरक्षित रखने के लिए प्रकृति की यह व्यवस्था रही है। परन्तु स्वार्थी मानव कभी जिह्वा के स्वाद के लिए कभी शारीरिक शक्ति प्राप्त करने के नाम पर, कभी सौन्दर्य प्रसाधन के लिए और कभी घर की साज-सज्जा के लिए इन जीव-जन्तुओं की हिंसा करने में प्रवृत्त हो गया। यह जीवहिंसा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और आज भूमि, जल और वायु का प्रदूषण बढ़ाने में हेतु बन गयी। जैन आचार संहिता में श्रावक और श्रमण दोनों के लिए अपने कर्त्तव्य और सामर्थ्य के अनुरूप अहिंसा का पालन अणुव्रत और महाव्रत के रूप में निर्धारित किया गया है।[3] क्योंकि तत्त्वदर्शी तीर्थंकरों ने यह अनुभव किया कि यदि अहिंसा का पालन न किया गया तो कालान्तर में प्रकृति के असंतुलन से उत्पन्न भूमि, जल और वायु का प्रदूषण कभी भी प्रलयंकारी हो सकता है।

भगवान् महावीर ने पृथ्वीकाय की हिंसा का निषेध करते हुए कहा है–'जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढवि सत्थं समारंभेमाणे अण्णेवेणेगरूवे पाणे विहिंसई तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं पुढवि-सत्यं समारंभेज्जा नेवऽण्णेहिं पुढवि-सत्थ समारंभावेज्जा नेवण्णे पुढवि-सत्यं समारंभे ते समणुजाणेज्जा।'[4] अर्थात् नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वी सम्बन्धी क्रिया में व्याप्त होकर पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करने वाला व्यक्ति नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है। मेधावी पुरुष हिंसा के परिणाम को जानकर स्वयं पृथ्वी शस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से उसका समारंभ न करवाये, उसका समारंभ करने वालों का अनुमोदन भी न करे। आज अनेक प्रकार के खनिज पदार्थों के लिए विशेषकर पत्थर के कोयले के लिए पृथ्वी का जबरदस्त दोहन किया जा रहा है। पत्थर के कोयले के जलने, उसकी धूल, कार्बनडाईऑक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड तथा कुछ अन्य ऑर्गेनिक गैसों के रूप में प्रदूषणकारी पदार्थों की भरमार हो गयी है। यदि पृथ्वीकाय जीवों की हिंसा बन्द कर दी जाये, तो कोयला तो बचेगा ही, वायु प्रदूषण पर भी नियंत्रण किया जा सकेगा। इस प्रकार पृथ्वीकाय की हिंसा केवल पृथ्वीकाय की हिंसा ही नहीं है, अपितु उसके साथ वातावरण के संतुलन का भी कारण है।

जीवनमित्र वृक्षों का नाश (वानस्पतिक प्रदूषण)–पर्यावरण के संरक्षण में वृक्षों का सर्वाधिक महत्त्व है। सामान्य रूप से वृक्ष मनुष्यों के द्वारा दूषित वायु के रूप में निष्कासित अथवा प्रकृति के भिन्न-भिन्न तत्त्वों के संसर्ग से स्वतः उत्पन्न होने वाली कार्बनडाइऑक्साइड आदि गैसों को आहार के रूप में ग्रहण करते हैं और उनसे सुपुष्ट होते हैं। इसके बदले में वे मानव-जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक ऑक्सीजन छोड़ते हैं, जिसके फलस्वरूप वायु में प्रदूषण उत्पन्न नहीं हो पाता। कार्बनडाइऑक्साइड ग्रहण करने का यह कार्य वृक्ष प्रायः रात्रि में करते हैं और प्रातः ऑक्सीजन छोड़ते हैं। पीपल आदि वृक्ष ऐसे भी हैं जो मानों ऑक्सीजन के भण्डार हैं और वे रात्रि में भी प्रभूत मात्रा में ऑक्सीजन विसर्जित करते हैं। नीम, अशोक आदि कुछ वृक्ष ऐसे हैं, जो अन्य अनेक प्रकार के वायुगत प्रदूषणों को समाप्त करके पर्यावरण में संतुलन बनाये रखते हुए मनुष्य को स्वास्थ्य प्रदान करते हैं।

वृक्षों का एक और महत्त्व भी है। वे भोजन के लिए अपनी जिन जड़ों के द्वारा भूमिगत जलग्रहण करते हैं, उन्हीं जड़ों के द्वारा भूमि को बांधने का भी काम करते हैं, जिससे भूमिक्षरण नही होता। फलतः भूमिक्षरण से होने वाले प्रदूषण से सुरक्षा हो जाती है। पीपल, बांस आदि वृक्ष इस दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। भूमि के कटाव को रोकने के लिए इनका योगदान अविस्मरणीय है।

पर्यावरण को सुरक्षित रखने की दृष्टि से वृक्षों का एक कार्य और महत्त्वपूर्ण है, वह है वायु की गति में अवरोध उत्पन्न करके बादलों को बरसने के लिए विवश करना। जहाँ वृष्टि से वृक्ष, वनस्पति बढ़ते हैं, फलते-फूलते हैं, वहीं उपर्युक्त प्रकार से वृक्ष वर्षा के प्रति कारण भी बनते हैं। इसके साथ ही वर्षा के माध्यम से भूमि पर आये हुए जल को सम्भाल कर रखने में भी वृक्षों और वनस्पतियों का बड़ा योगदान है।

जीव-जन्तुओं को सुरक्षित रखने के क्रम में वृक्षों का महत्त्व सर्वाधिक है। वृक्षों से प्राप्त फल, बीज, पुष्प और पत्र आहार के रूप में तथा सूखे काष्ठ इंधन के रूप में मनुष्य के आहार का सम्पादन करते हैं। अनेक वृक्ष और वनस्पतियाँ अपने विविध अंगों के माध्यम से शरीरगत रोगों के निवारण में अपूर्व योगदान करती हैं। प्राचीन भारतीय चिकित्सा पद्धति में तो लगभग ७५% से अधिक औषधियाँ वृक्षों वनस्पतियों से प्राप्त उपादानों से ही निर्मित होती हैं। रोगनिवारण के क्षेत्र में उत्तरकालीन हानिरहित जो योगदान वानस्पतिक उपादानों का है, उसकी तुलना में अन्य स्रोतों से प्राप्त उपादान अपना कोई महत्त्व नहीं रखते।

विगत कुछ दशाब्दियों में वृक्षों का संहार करते हुए वनसम्पदा का जिस प्रकार दोहन विकसित कहे जाने वाले देशों द्वारा किया गया है, उस से आज पर्यावरण सम्बन्धी विभीषिका इतनी बढ़ गयी है कि मनुष्य को उसका कोई उपाय खोजने पर भी नहीं मिल रहा है।

जैन परम्परा में इस यथार्थ को समझते हुए वृक्षों के प्रति आत्मीयता की ही नहीं, पूजनीयता की भावना प्रतिष्ठित की गयी है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। इस परम्परा में सर्वाधिक महनीय भगवान् के रूप में आदरणीय तीर्थंकरों की तीर्थंकरत्व (केवलज्ञान) की प्राप्ति में वृक्षों की छाया का अतिशय योगदान रहा है, जिसके फलस्वरूप तीर्थंकरों की चर्चा करते हुए उनके नाम के साथ उस वृक्ष विशेष का नाम सदा स्मरण किया जाता है। जिसके नीचे केवल ज्ञान प्राप्त हुआ है।[५]

जैन परम्परा के अनुसार वृक्ष मानवजीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। भोजन, वस्त्र, अलंकरण, आवास, मनोरंजन आदि सभी कुछ इनसे प्राप्त होता है। फल-फूल, पत्र, कन्द आदि के रूप में ये भोजन देते हैं, पत्र छाल और इनके रेशे कपास एवं आक आदि के फल से प्राप्त रुई से हमें वस्त्र आदि के रूप में आच्छादन प्राप्त कराते हैं। वृक्षों के पत्र और पुष्प तथा उन (वृक्षों) से उत्पन्न लाख श्रृंगार के उपादान बनकर मानव को विभूषित करते हैं। पेड़ों की टहनियों, शाखाओं और पत्तों आदि से मनुष्य अपना आवास बनाता है, तो उनके कोटरों में शुक आदि पक्षी और अनेक जीव-जन्तु वास करते हैं। कुछ पक्षी शाखाओं पर अपने नीड स्थापित करते हैं तथा अधिकांश वनचर जीव, अनेक बार मनुष्य भी वृक्षों की छाया में विश्राम प्राप्त करते हैं। सामान्य बांसों से निर्मित वंशी, असन (विजयसार) के काष्ठ से बने हुए मृदंग, तबले, वीणा आदि संगीत के साधन बनकर मनुष्य का मनोरंजन करते हैं। कीचक नामक बांस विशेष तो स्वयं ही वन में मधुर संगीत उत्पन्न करता हुआ मानव मन की व्यथा और श्रम का हरण करता है।[६] इस प्रकार वृक्ष मानव की दो-चार नहीं समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ होते हैं। इसीलिए जैन मनीषियों ने वृक्षों के कल्पवृक्ष स्वरूप को पहचानते हुए उन्हें प्रतिष्ठित किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने अवसर्पिणी काल के सुषमा-सुषमा विभाग में केवल कल्पवृक्षों को ही मनुष्य की समस्त जरूरतों की पूर्ति करने वाला स्वीकार किया है और व्याख्या करते हुए मानव की दस प्रकार की आवश्यकताओं तथा उनके पूरक दस प्रकार के कल्पवृक्षों की कल्पना की है।[७] जैन आचार्यों की इस कल्पना को न केवल ब्राह्मण परम्परा के ग्रन्थों में स्वर्ग में कल्पवृक्ष की स्थिति का वर्णन किया गया है,[८] अपितु कालिदास जैसे महाकवियों ने शकुन्तला जैसी नायिकाओं के श्रृंगार के लिए वृक्षों से ही अंगराग, क्षौमवसन एवं विविध प्रकार के आभरणों की प्राप्ति का भी वर्णन किया है।[९]

वृक्षों की इस महिमा को स्वीकार करते हुए ही जैन परम्परा में चैत्यवृक्षों के नाम से वृक्षों को अत्यन्त पूजनीय स्वीकार किया गया है। इन वृक्षों में आरोग्यदायी, आनन्ददायी, भोजनदायी और अन्य प्रकार के इन्द्रिय सुख देने वाले, अशोक, सप्तपर्ण, आम्र, चम्पक वृक्ष प्रतिनिधिभूत हैं। इन चैत्यवृक्षों के प्रति जैनपरम्परा में सर्वाधिक आदर है, केवल तीर्थंकर ही इनसे अधिक आदर के पात्र हो पाते हैं।[१०] जैन परम्परा में स्वीकृत वृक्षों के प्रति आदरपूर्ण प्रेम भारतीय संस्कृति का प्रधान अंग सा बन गया है। तभी कालिदास की शकुन्तला कण्व-आश्रम के वृक्षों के प्रति सोदर स्नेह रखती है[११] और उनकी ही पार्वती वृक्षों को पुत्र के रूप में हेमघटों से स्तन्यपान कराती हैं। शिव भी उन वृक्षों में पुत्र भाव रखते हैं।[१२] वृक्षों के प्रति अतिशय अनुराग के कारण नवयुवतियां अपना श्रृंगार छोड़ सकती हैं किन्तु उनके प्रति अनुराग में शिथिलता नहीं आने देतीं।[१३]

वृक्षों के प्रति देव, मानव और सामान्य प्राणी इन तीनों के अनुराग की सूचना हमें जैन पुराणों में प्राप्त देवारण्य, देवरमण,

मानुषोत्तर, प्रमद, सौमनस, सहायक, नागरमण, भूतरमण आदि वन नामों से भी मिलती है।[१४]

इन सब संदर्भों के आधार पर निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि जैन दृष्टि से प्रभावित भारतीय संस्कृति में वृक्षों को जीवन का मित्र माना गया है। पेड़-पौधों की अहिंसा मनुष्य के अपने जीवन के लिए भी अनिवार्य है। इसी कारण प्राचीनकाल में भारतभूमि शस्यश्यामला रही है। यहाँ फल और कन्दमूल का भण्डार रहा है तथा वृक्ष-वनस्पतियों पर ही आश्रित होकर जीने वाले गो आदि पशुधन की समृद्धि से घी-दूध आदि की नदियां बहती रही हैं। सम्प्रति न केवल पौष्टिक आहार (दूध-घी आदि) अपितु सामान्य खाद्य पदार्थों के अतिशय अभाव का कारण जीवनमित्र वृक्षों का नाश ही है। वर्षा का अभाव, बाढ़ से फसलों का विनाश, भूस्खलन से जन और धन की बर्बादी आदि सभी आपदाएँ जीवनमित्र वृक्षों के नाश के कारण ही उत्पन्न हुई हैं।

जोधपुर विश्वविद्यालय में वानस्पतिक प्रदूषण के सम्बन्ध में आयोजित एक गोष्ठी में बोलते हुए प्रो. जी. एम. जौहरी ने कहा था–पेड़ पौधों से ही पृथ्वी पर जीवन है। वनस्पति के बिना जैविक प्रक्रिया असम्भव है। जैविक संतुलन बनाये रखने के लिए पौध-संरक्षण आवश्यक है। सचमुच वनस्पति मनुष्य के लिए अनेक दृष्टियों से वरदान है। संसार में जितना प्राणवायु है, उसका बहुत बड़ा भाग वनस्पति से ही उत्पन्न होता है। यतः मानव जीवन वनस्पति पर आधारित है, वही मनुष्य की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करती है उसका विनाश व्यक्ति का अपना स्वयं का विनाश है। इसीलिए आज प्राणवायु की दृष्टि से भी वनों की कटाई रोकने और पौधों को संरक्षण दिये जाने की आवश्यकता है। निश्चय ही आज वनस्पति-सम्पदा का जिस तरह विनाश हो रहा है, वह एक चिन्ता का विषय है। पेड़-पौधों की लगभग ५०० प्रजातियां नष्ट हो गयी हैं। इसी प्रकार वनस्पति के विनाश से रेगिस्तान का जो विस्तार होता है, वह भी एक भयंकर समस्या है। रेगिस्तान का विकास मानव द्वारा किया गया है और वह उसके अपने अस्तित्व के लिए भी खतरा सिद्ध हो रहा है।

वनस्पति की हिंसा का तीव्र विरोध करते हुए आचारांग में भगवान् महावीर ने कहा है कि कोई साधक स्वयं वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने की अनुमति देता है, वह हिंसा उसके स्वयं के लिए अहितकर होती है। आवश्यकता इस बात की है कि हम महावीर की क्रान्त दृष्टि वनस्पतिकाय की अहिंसा को युगीन सन्दर्भ में गम्भीरतापूर्वक समझाकर उसे एक नया अर्थबोध दें। इतिहास साक्षी है कि जहाँ भी वन समाप्त हुए वहाँ संस्कृतियाँ और समाज समाप्त हो गये, क्योंकि वृक्षविहीन धरती रेगिस्तान में बदल गयी और समाज भूख, प्यास तथा वायु प्रदूषण के शिकार हो गये। वनविहीन क्षेत्रों के निवासी बर्बर, क्रूर और हिंसक होते हैं क्योंकि ऐसे क्षेत्रों में ऑक्सीजन की कमी हो जाती है, परिणामतः शारीरिक और मानसिक रूप से कई रोग पनपते हैं। तात्पर्य यह है कि वनों के कटने से प्राकृतिक संतुलन में विषमता आ जाती है। वनस्पतिकाय की हिंसा के अनेकविध दुष्परिणाम होते हैं–प्राणवायु का नाश, भूक्षरण को बढ़ावा, भूमि की उर्वराशक्ति का घटना, वर्षा के अनुपात में कमी, जनजीवन के विनाश में तीव्रता आदि।

औद्योगिक प्रदूषण–भूमि आदि प्रकृति के सभी अंगों का सर्वाधिक प्रदूषण आधुनिक विज्ञान पर आश्रित उद्योगों के कारण होता है। यह प्रदूषण सर्वाधिक तीव्र और भयानक है। इस प्रदूषण को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। (१) उद्योगों से अपसृष्ट कचरा, जो जल, वायु अथवा भूमि को प्रदूषित करता है। (२) उद्योगों से प्रसूत उपभोग सामग्री, जो विविध प्रकार की गैसों का विसर्जन करके वायुमंडल में प्रदूषण पैदा करती है।

(१) औद्योगिक अपसृष्ट (कचरा)–उद्योगों से कई प्रकार का अपसृष्ट (कचरा) निकलता है। कोयला, डीजल, पेट्रोल अथवा यूरेनियम का ईंधन के रूप में प्रयोग करके चलायी जाने वाली मशीनों से विविध प्रकार की गैसे निकलती हैं, जिनमें सर्वप्रमुख कार्बनडाइऑक्साइड और कार्बनमोनोऑक्साइड हैं। ये गैसें प्राणशक्ति (जीवन शक्ति) को नष्ट करती हैं। इसके अतिरिक्त कार्बनडाइऑक्साइड गैस सूर्य की किरणों को पृथ्वी तक आने तो देती है किन्तु वापिसी में गर्मी के कुछ भाग को पृथ्वी पर रोक लेती है। यह क्रिया क्लोरोफ्लोरो कार्बन गैस में सौ गुनी अधिक है। ग्रीनहाउस गैसों की स्थिति और भयावह है। इनके कारण पृथ्वी तल के वनों का निरन्तर ह्रास हो रहा है। अब तक १.१ करोड़ हेक्टेयर वनों का नाश हो चुका है। फलतः वायुमण्डल का सन्तुलन बिगड़ रहा है।

उद्योगों से प्रसूत गैसों के कारण ही सूर्य और पृथ्वी के बीच सुरक्षा कवच के रूप में स्थित ओजोन परत का क्षरण हो रहा है, जो अत्यन्त भयावह है। ओजोन परत के विच्छिन्न होने के कारण पृथ्वीवासियों के अस्तित्व पर भी भय की छाया मंडराने लगी है। सूर्य से निरन्तर पराबैंगनी किरणों का विकिरण होता है, ओजोन उन्हें रोकने के लिए कवच का कार्य करती है। सामान्य स्थिति में अविच्छिन्न ओजोन पराबैंगनी किरणों से टकराकर ऑक्सीजन में बदल जाती है। ये किरणें पुनः ऑक्सीजन से टकराती हैं और ओजोन का निर्माण होता है। इस प्रकार सन्तुलन बना रहता है। पृथ्वी पर ऑक्सीजन का मुख्य स्रोत ओजोन ही है। पराबैंगनी किरणें अत्यन्त शक्तिशाली और इसी कारण अतिशय भयानक होती हैं। उनके संस्पर्श से शरीर की सुरक्षा-व्यवस्था समाप्त हो सकती है। शरीर में कैंसर, आँखों के रोग आदि भयावह रोगों का जन्म हो

सकता है। वर्तमान में ओजोन कवच के छिद्रयुक्त होने से कैंसर रोगियों की संख्या में छः प्रतिशत वृद्धि हुई भी है।

उद्योगों से अपसृष्ट कुछ गैसों से वातावरण का अम्लीकरण भी भयंकर परिणाम देता है, इसके फलस्वरूप जर्मनी के वन उजड़ रहे हैं, उत्तरी अमेरिका की झीलें सूख रही हैं, ब्राजील की कृषिभूमि अनुपयोगी होती जा रही है और ताजमहल जैसे भव्य ऐतिहासिक भवन बदरंग होते जा रहे हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वातावरण में विद्यमान इन अम्लों के अधिक बढ़ जाने पर वे वर्षा के साथ भूमि पर आते हैं, उस समय कभी तो सल्फ्यूरिक एसिड, कभी हाइड्रोक्लोरिक एसिड और कभी नाइट्रिक एसिड की मात्रा इतनी अधिक होती है कि उपर्युक्त हानि के अतिरिक्त प्राणियों के सामान्य स्वास्थ्य पर भी भयंकर प्रभाव प्रकट होते हैं। इन अम्लीय वर्षा से नदियों का जल भी प्रदूषित हो जाता है।

औद्योगिक इकाइयों से निकलने वाला अपसृष्ट जल इतना कचरा लेकर नदियों में पहुँचता है कि उनका जल पीने को कौन कहे, सिंचाई के योग्य भी नहीं रह जाता। इस समय देश में सर्वाधिक दूषित जल यमुना नदी का है, जिसके वैज्ञानिक अध्ययन से पता चला है कि यमुना के प्रति १०० मिलिलीटर जल में ७,५०० कौलिफार्म बैक्टीरिया हैं, जो स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक हैं एवं अनेक रोगों को जन्म देने वाले हैं। इसी प्रकार बम्बई के निकट कल्याण अम्बरनाथ और उल्हासनगर के उद्योगों से निकलने वाले दूषित जल का वैज्ञानिक परीक्षण करने पर पाया गया कि उल्हास नदी में प्रतिवर्ष १,१०० किलोग्राम ताँबा, ७,००० किलोग्राम सीसा, ४ लाख किलोग्राम जिन्क, ७,००० कि. ग्रा. पारा और ५०० कि. ग्रा. क्रोमियम के कण प्रवाहित होते हैं, जो प्रत्यक्षतः विष हैं। शराब की फैक्टरियों से निकलने वाले जल में क्लोराइड, नाइट्रेट, फास्फेट, पोटेशियम और सोडियम के कण होते हैं, जो नदियों के जल को ही नहीं; अपितु तालाबों और कुओं के जल को भी प्रदूषित कर देते हैं। उद्योगों से निकला हुआ यह अपभ्रष्ट (कचरा) जल के साथ-साथ भूमि को भी प्रदूषित करता है और उसकी उत्पादक शक्ति को क्षीण या समाप्त कर देता है।

पानी का प्रदूषण चाहे तालाब में हो, चाहे नदी में, अन्ततः वह समुद्र में ही मिलता है, इससे प्राणवायु के उत्पादन का सन्तुलन बिगड़ता है। भगवान् महावीर ने कहा है–**तंसे अहियाई तंसे अबोहिये** अर्थात् जल की हिंसा मनुष्य के अहित तथा अबोधि का कारण है। जल के सम्बन्ध में प्राचीनकाल से स्वीकार किया जाता है कि जल अमृत का ओढ़ना और बिछौना (आस्तरण अपिधान) है।[१५] यह अभीष्ट फलों को देने वाला है और सबका पालन करने वाला है।[१६] यह सुख और ऊर्जस्विता प्रदान करता है।[१७] यह विश्व का शिवतम् रस है,[१८] जो दीर्घायुष्य और वर्चस्व प्रदान करता है।[१९] जल की इस अमृतमयता को सुरक्षित रखने के लिए जहाँ कौटिल्य अर्थशास्त्र में जल का प्रदूषण करने वाले को कठोर दण्ड देने की व्यवस्था दी गयी थी वहीं समाज के मार्गदर्शकों ने नदियों में सोने-चाँदी और ताँबे के सिक्के डालने की प्रथा धर्म के रूप में प्रारम्भ करवा दी थी, जिससे अनजाने जल में होने वाला प्रदूषण दूर हो सके और उसकी गुणवत्ता न केवल सुरक्षित रहे अपितु बढ़ती भी रहे। स्मरणीय है कि सुवर्ण के सम्पर्क में आया हुआ जल कीटाणुरहित होकर हृदय के रोगों से सुरक्षा प्रदान करता है और ताम्बे के संसर्ग से वह उदर रोगों को दूर करने वाला हो जाता है। इसी प्रकार रजत से भावित जल श्वांस संस्थान सम्बन्धी रोगों का निवारण करता है।

इसके अतिरिक्त उद्योगों में प्रयोग के लिए विविध प्रकार की गैसों का भण्डारण होता है। अनेक बार उन भण्डारित गैसों का रिसाव अथवा विस्फोट आकस्मिक रूप स पर्यावरण को इतना प्रदूषित कर देता है कि लाखों लोगों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है। १९८४ में भोपाल कांड, १९८६ में उक्रेन स्थित चेरनोबिल विस्फोट और १९८६ में ही राइन नदी की भयंकर आग आदि की उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है।

(२) उद्योगों से प्रसूत उपभोग-सामग्री से प्रदूषण–उद्योगों द्वारा मानव के उपभोग के लिए जो विविध उपादान तैयार किये जाते हैं, वे स्वयं में भी अनेक प्रकार का प्रदूषण पैदा करते हैं। इनमें शृंगार-प्रसाधन आदि कुछ पदार्थ ऐसे हैं, जो अत्यन्त सीमित क्षेत्र में प्रदूषण पैदा करते हैं और उनका प्रभाव मुख्यरूप से उनका उपभोग करने वालों पर पड़ता है। इसी श्रेणी में केश को काला करने वाले खिजाब को लिया जा सकता है, जो चर्मरोगों को तो उत्पन्न करता ही है, कभी-कभी कैंसर का भी जन्मदाता हो जाता है। सिगरेट, सिगार आदि पदार्थ उपभोग करने वाले के साथ पड़ोसी को भी हानि पहुँचाते हैं। यद्यपि उनसे वायुमण्डल का प्रदूषण सीमित मात्रा में ही होता है। कार, स्कूटर, हवाई जहाज आदि ऐसे भोग साधन हैं, जिनमें पेट्रोल का ईंधन के रूप में प्रयोग होता है और उस ईंधन के प्रज्वलन के अनन्तर कार्बनमोनोऑक्साइड आदि गैसें निकलती हैं, जो स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक हैं। दिल्ली, बम्बई, वाशिंगटन, न्यूयार्क और लन्दन आदि महानगरों में इन भोगसाधनों के द्वारा जो प्रदूषण उत्पन्न हुआ है, वह इस बात का प्रमाण है। इसी प्रकार सीमेंट, सीमेंट निर्मित चादरें आदि से निकलने वाली गैसें भी स्वास्थ्य के लिए हानिकर हैं, इस पर वैज्ञानिकों ने अनेक बार अपने मत प्रकट किये हैं।

नगर प्रदूषण–उद्योगों के विस्तार के फलस्वरूप विगत वर्षों में ग्रामीण जनता का नगरों की ओर आकृष्ट होना प्रारम्भ हो गया है, परिणामतः छोटे कस्बे नगरों में और नगर महानगरों में परिवर्तित होते जा रहे हैं। ग्रामों में जहाँ सामान्यतः दो-ढाई सौ से लेकर

दो-ढाई हजार तक आबादी होती है, वहाँ महानगरों की जनसंख्या करोड़ों तक पहुँच रही है। इन महानगरों में एक स्थान से दूसरे स्थान की दूरी भी बहुधा ५०-६० कि. मी. तक पहुँचने लगी है। सेवा-संस्थानों तथा औद्योगिक इकाइयों में कार्यरत व्यक्तियों को लम्बी दूरी तय करने के लिए स्कूटर, कार, बस आदि वाहनों की आवश्यकता आ पड़ी है। इन महानगरों में वानस्पतिक (पेड़-पौधों वाले) वनों के स्थान पर कंकरीट के जंगल (ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ) तैयार होने लगे हैं जिनमें मनुष्य घोंसलों में पक्षी की तरह रहने को विवश हो रहा है। फलतः ग्रामों की तुलना में नगरों में वायवीय पर्यावरण प्रदूषण अत्यधिक मात्रा में होता है। कभी-कभी तो इस प्रदूषण की मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि वह पर्यावरण मनुष्य के रहने योग्य नहीं रह जाता।

आजीविका की खोज में निरन्तर ग्रामों से शहरों की ओर आने वाली गरीब जनता के आवासीय क्षेत्र में, जिन्हें झुग्गी-झोपड़ी या झोपड़-पट्टी के नाम से जाना जाता है, जल-मल व्यवस्था न होने और आवासियों की अधिकता होने के कारण जो प्रदूषण होता है, सामान्य व्यक्ति उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता आदि महानगरों के साठ से अस्सी प्रतिशत लोग इन्हीं बस्तियों में रह रहे हैं। विगत दस वर्षों से ग्रामों से नगरों की ओर लोगों के भागने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप आगामी कुछ वर्षों में नगरों के पर्यावरण की स्थिति अत्यन्त शोचनीय होने जा रही है।

इतनी बड़ी जनसंख्या के लिए शुद्ध पानी की व्यवस्था करना निश्चित ही एक समस्या है, इसलिए उपलब्ध जल में क्लोरीन मिलाकर उसे कीटाणु रहित करके उपलब्ध कराया जाता है। क्लोरीन स्वयं में विष है, अतः विवशता में शुद्धि के नाम पर यह जल प्रदूषण महानगरीय संस्कृति की देन हैं।

इन महानगरों में मल-व्ययन की समस्या और भी कठिन है। सीवरों के माध्यम से प्रायः नगरों का सम्पूर्ण मल एकत्र होकर नदियों में गिराया जा रहा है, जिससे नदियों का अमृतमय जल प्रदूषित होकर इतना विषमय हो रहा है कि पीने को कौन कहे, वह स्नान योग्य भी नहीं रह गया है।

ध्वनि प्रदूषण–महानगरीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार के फलस्वरूप एक नवीन प्रकार का प्रदूषण सुरसा के मुख की भाँति निरन्तर विस्तृत होता जा रहा है, जिसे ध्वनि प्रदूषण कहते हैं। नगरों में यातायात के रूप में प्रयुक्त होने वाले यन्त्र स्कूटर, कार, बस, ट्रक आदि अपने इंजन के द्वारा अथवा हार्न के द्वारा जो तीव्र ध्वनि उत्पन्न करते हैं, उसने नयी प्रकार की समस्या उत्पन्न कर दी है। बहुधा रोगी व्यक्ति हार्न की ध्वनि सुनकर बेचैन हो उठता है और वह बैचैनी कई बार प्राणघातक बन जाती है। तीव्र गति वाले जेट और सुपरसोनिक आदि विमान अपनी उड़ान के समय इतनी अधिक ध्वनि उत्पन्न करते हैं कि वे किसी भी स्वस्थ व्यक्ति के कानों को बहरा कर देने के लिए पर्याप्त हैं। विगत २५-३० वर्षों से आकाशवाणी और दूरदर्शन का प्रसार होने के बाद कुछ श्रोता उनका प्रयोग इस प्रकार तीव्रतम ध्वनि (Full Volume) के साथ करते हैं कि पास-पड़ौस के कम से कम चार-पांच घरों में शान्त बैठकर एकाग्रतापूर्वक कोई किसी कार्य को सम्पन्न करना चाहे, तो वह सम्भव नहीं है। होली आदि पर्व, विवाहादि पारिवारिक उत्सव अथवा रामायण, कीर्तन, देवीजागरण आदि धार्मिक उत्सवों पर ध्वनिविस्तारक यन्त्रों का इस बहुतायत के साथ प्रयोग होने लगा है कि उसकी तीव्रता को न सह पाने के कारण अनेक लोगों की श्रवण और स्मरण शक्ति भी क्षीण हो गयी है। इससे भी भयंकर स्थिति दिवाली, दशहरा, नववर्ष आदि पर्वों पर प्रयोग होने वाले पटाखों और आतिशबाजी से होती है, जिसके फलस्वरूप प्रायः सभी जन (विशेषतः बच्चे और रोगी) बार-बार चौंक उठते हैं, विश्राम (निद्रा) नहीं ले पाते। अध्ययनशील विद्यार्थी और साधनारत तपस्वी तो ऐसे दिनों में आवासीय क्षेत्र का त्याग करके बाहर (अन्यत्र) चले जाने की कामना करते हैं। महावीर स्वामी ने 'स्वयं जिओ और जीने दो' का जो संदेश दिया था, यदि उसकी प्रतिष्ठा सर्वसामान्य के मानस में हो जाये, तभी ध्वनि-प्रदूषण की समस्या का समाधान हो सकता है, अन्यथा नहीं।

कृषि प्रदूषण–औद्योगिक प्रदूषण से उत्पन्न दूषित जल अनेक प्रकार के विषों से मिश्रित होकर कृषि क्षेत्रों में पहुँचता है, भूमि में उन विषैले तत्त्व का अवशोषण होता है। आणविक विस्फोटों से वायुमंडल में जो रेडियोधर्मी तत्त्व पहुँचते हैं अथवा रासायनिक प्रदूषणों स वायुमण्डल में जो गैसें प्रविष्ट हो जाती है, वर्षा के माध्यम से उनके विष तत्त्व कृषि क्षेत्रों में पहुँचते हैं, जहाँ अन्न, फल, साक, सब्जी के पौधों द्वारा उनका अवशोषण होता है। फलतः अन्न फल आदि सब विषैले हो जाते हैं, जो भोजन के रूप में प्राणियों के शरीर में पहुँच जाते हैं। यह सब कृषि प्रदूषण कहलाता है। इसके अतिरिक्त चूहों तथा कृषि को हानि पहुँचाने वाले अन्य कीड़ों के संहार के लिए जिन कीटनाशक रसायनों का प्रयोग होता है अथवा खरपतवार के उन्मूलन के लिए भी विविध रसायनों का जो प्रयोग आज प्रचलन में आ चुका है, उनसे भी अन्न, फल आदि विषाक्त होते जा रहे हैं, जो जन स्वास्थ्य के लिए अतिशय हानिकर हैं। नगर और महानगरों के निवासियों में बहुधा पीलिया जैसे रोग महामारी के रूप में फैलते दिखायी पड़ रहे हैं, वे औद्योगिक कचरे से उत्पन्न कृषि प्रदूषण का ही परिणाम है। साथ ही उत्पादन में वृद्धि के लिए रसायनों तथा सुरक्षा के उद्देश्य से कीटनाशकों के प्रयोग के फलस्वरूप अन्न और फल आदि की गुणवत्ता भी नष्ट हो रही है।

रासायनिक प्रदूषण–औद्योगिक प्रदूषणों के समान ही युद्धलिप्सा से विविध प्रकार के पारम्परिक शस्त्र-अस्त्र, नाभिकीय और

रासायनिक अस्त्रों, जिनमें एटम बम, हाइड्रोजन बम इत्यादि प्रमुख हैं, का पर्यावरण के प्रदूषण में अतिशय महत्त्व है। द्वितीय महायुद्ध में प्रत्यक्षतः हिरोशिमा और नागासाकी में किये गये अणुबम के प्रयोग से जो पर्यावरण का प्रदूषण हुआ और उसके फलस्वरूप जो नरसंहार आदि हुआ, उसे आज ४८ वर्षों के बाद भी भूलना सम्भव नहीं है। ध्यातव्य है कि इस अणु विस्फोट के कारण प्राणियों के गुणसूत्रों में जो असंतुलन पैदा हुआ है, उससे आज भी अपंग सन्तानें जन्म ले रही हैं। प्रत्यक्ष प्रयोगों के अतिरिक्त इन अस्त्रों के निर्माण के उद्देश्य से किये गये विविध प्रकार के भूमिगत अथवा वायुमण्डलीय परीक्षणों से जो रेडियोधर्मिता उत्पन्न होती है, उसकी विभीषिका भी कम नहीं है।

इस प्रकार पर्यावरण का अम्लीकरण, नदियों के जल का प्रदूषण, वायु में कार्बनडाइऑक्साइड, कार्बनमोनोऑक्साइड आदि गैसों का मिश्रण प्राणिमात्र के लिए भयावह हो उठा है। पर्यावरण की इस भयावह स्थिति की ओर न केवल वैज्ञानिकों अपितु विविध राष्ट्रों के राष्ट्राध्यक्षों का भी ध्यान गया है और वे चिन्तित हो उठे हैं। इस चिन्ता के फलस्वरूप गतवर्ष (१९९२) में स्टाकहोम में सम्पन्न पृथ्वी सम्मेलन में विकसित विकासशील और अविकसित देशों के १२० से अधिक राष्ट्राध्यक्षों ने भाग लिया, अपनी चिन्ताएं प्रकट कीं और उनके निवारण क लिए कुछ सिद्धान्त भी निर्धारित किये। इस सम्मेलन के पूर्व भी १९७०, ७२, ७६, ७७, ८६, ८८, ८९ में अनेक सम्मेलन पर्यावरण प्रदूषण के चिन्ता के फलस्वरूप ही हुए हैं और प्रदूषण रोकने के लिए कुछ न कुछ संकल्प भी उनमें लिये गये हैं। पर्यावरण प्रदूषण से सुरक्षा के लिए सभी देशों के शासनतंत्र ने अपने-अपने यहाँ समय-समय पर अनेक नियम-अधिनियम बनाये। उदाहरणार्थ, भारत में १९०५ में औद्योगिक प्रदूषण निरोध अधिनियम, १९४८,१९७६ में कारखाना संशोधन अधिनियम, १९६८ में कीटनाशी अधिनियम, १९७४ में जल प्रदूषण नियंत्रण कानून, १९७५, ७७ में जल प्रदूषण अधिनियम, १९७८, ८१ में वायु प्रदूषण अधिनियम, १९७२ में वन्यजीवन संरक्षण कानून, १९७४ में वन्यप्राणी संवर्धन कानून और १९८१ में वनसंरक्षण कानून आदि बनाये गये।

इसके साथ ही १९४८ में बनाये गये संविधान में स्वीकृत संकल्पों को आधार बनाकर उच्च और उच्चतम न्यायालयों ने अनेक निर्देश दिये, जिससे पर्यावरण की सुरक्षा हो सके। इसी प्रकार फ्रांस, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, कनाडा, अमेरिका आदि विश्व के अन्य देशों के न्यायालयों ने भी ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय दिये, जो पर्यावरण को प्रदूषण से बचाने के लिए विशेष महत्त्व रखते हैं।

वैचारिक प्रदूषण–जल, वायु, मृदा, ध्वनि आदि प्रदूषण स्थूल पंचभूतों में होते हैं किन्तु अष्टधा प्रकृति में से मन, बुद्धि, अहंकार में लोभ, मोह, क्रोध अथवा संकीर्ण स्वार्थ लिप्सा से जो प्रदूषण होता है, उसे वैचारिक प्रदूषण कहते हैं। यह वैचारिक प्रदूषण ऊपर वर्णित अन्य प्रकार के प्रदूषणों का जनक अथवा संवर्धक है। वैचारिक प्रदूषण के चार चरण माने जा सकते हैं–(i) अशुभचिंतन (ii) अभिनिवेश (आग्रह, पूर्वाग्रह और कदाग्रह) (iii) ईर्ष्या-द्वेष और उससे उत्पन्न चरित्र हनन की कुत्सित प्रवृत्तियां तथा (iv) वैचारिक प्रदूषण मुक्त लोक जीवन।

(i) अशुभचिन्तन–मानव के हृदय में अनेक बार असीम ब्रह्माण्ड के साथ तादात्म्य की भावना तिरोहित हो जाती है और संकीर्ण स्वार्थ उसे घेरने लगते हैं। इस संकीर्ण स्वार्थ के फलस्वरूप उसके हृदय में विविध प्रकार के अशुभ भावों का उदय होता है। इन अशुभ भावों में मुख्य है–लोभ, मोह और क्रोध। इनका उदय इन्द्रियों के विषयों के चिन्तन से होता है। इसीलिए जैन परम्परा में विषयचिन्तन और विषय-कथा को भी तिरस्करणीय माना गया है।[२०] वस्तुतः विषयों का चिन्तन होते ही उनके प्रति आसक्ति उत्पन्न होने लगती है। आसक्ति का जन्म कामना की सृष्टि करता है, कामना की पूर्ति सदा होती रहे, यह आवश्यक नहीं है। काम्य वस्तु के मिलने पर भी उसके उपभोग का अवसर मिल ही जाये, यह भी आवश्यक नहीं है। दोनों ही परिस्थितियों में कामी के हृदय में प्रतिबंधक व्यक्ति, परिस्थिति अथवा भाग्य के प्रति क्रोध सहज ही आ जाता है। क्रोध विचारशीलता का शत्रु है, अतः क्रोध का जन्म होने पर विचारशीलता का प्रतिपक्षी संमोह सहजभाव से प्रकट होता है और वह विवेक को नष्ट कर देता है। विवेक-नाश का अर्थ है सर्वनाश।[२१] अविवेकी व्यक्ति कभी हिंसा में प्रवृत्त होता है, कभी छल-छद्म करता है, कभी उसमें लम्पटता जन्म लेती है और विविध प्रकार के परिग्रहों की कामना भी बुद्धिनाश के परिणामस्वरूप होती है।[२२] इस प्रकार विषयों का चिन्तन लोभ, मोह, क्रोध आदि के माध्यम से सर्वनाश का कारण बन जाता है। वह सर्वनाश अपना ही नहीं कई बार समाज और राष्ट्र का भी हो सकता है। विषय-चिन्तन से लेकर बुद्धिनाश तक की जो विविध मानसिक स्थितियां हैं, वे सभी वैचारिक प्रदूषण कही जाती हैं।

आज के समाज में मूलबद्ध हो रहा भ्रष्टाचार वैचारिक प्रदूषण का ही दुष्परिणाम है। इसी से उत्पन्न असन्तोष विस्फोट के रूप में आतंकवाद के नाम से समस्त विश्व को पीड़ित कर रहा है। विविध राष्ट्रों के परस्पर संघर्ष वैचारिक प्रदूषण की ही सृष्टि हैं। युद्ध की तैयारियां, उसमें विजय के लिए विविध प्रकार के पारम्परिक, आणविक अथवा रासायनिक शस्त्रास्त्रों की होड़ इसी वैचारिक प्रदूषण का परिणाम है।

जैन आचार्यों ने सब प्रकार के पर्यावरण प्रदूषणों के मूल रूप इस अशुभ चिन्तन रूप वैचारिक प्रदूषण को देखा था और उससे बचने के लिए श्रावकों के लिए अणुव्रत के रूप में और मुनिजनों

के लिए महाव्रत के रूप में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन अनिवार्य माना था। इस वैचारिक प्रदूषण रूप महारोग से बचने अथवा उसकी चिकित्सा के लिए इन अणुव्रतों अथवा महाव्रतों के पालन से बढ़कर कोई अन्य उपाय नहीं है और इनकी प्रासंगिकता आज भी उतनी ही बनी हुई है।

अभिनिवेश–अभिनिवेश अर्थात् आग्रह, पूर्वाग्रह और कदाग्रह भी वैचारिक प्रदूषण का एक प्रकार है। इससे ग्रस्त व्यक्ति यथार्थ को समझकर भी झूठे अभिमान के चक्कर में पड़कर अपने अन्यायपूर्ण आग्रह से हटना नहीं चाहता, जिससे समाज में अनेक प्रकार की विसंगतियां उत्पन्न होती हैं। जैन परम्परा में सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय इस वैचारिक-प्रदूषण के निवारण का सर्वोत्तम उपाय है।

चरित्रहनन की कुत्सित प्रवृत्तियाँ–समाज में प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता और कार्य-सामर्थ्य भिन्न-भिन्न स्तर का हुआ करता है, जिसके फलस्वरूप उसकी उपलब्धियां भी भिन्न-भिन्न होती हैं। इस स्थिति में स्वयं को हीन स्थिति में देखकर बहुत बार मनुष्य उच्च स्थिति वाले व्यक्ति के प्रति ईर्ष्याग्रस्त हो जाता है। कभी प्रतिद्वन्द्विता की स्थिति में अपनी असफलता देखकर प्रतिद्वन्द्वी के प्रति द्वेष का जन्म होता है। ये दोनों ही मनोभाव उसे प्रतिपक्षी के चरित्रहनन की कुत्सित प्रवृत्ति में प्रेरित करने हैं, जिसके फलस्वरूप दोनों के ही चित्त में अशान्ति और विक्षोभ उत्पन्न होता है। समाज भी उस विक्षोभ से अलग नहीं रह पाता और अशान्त हो उठता है। यह अशान्ति सबकी पीड़ा का कारण बनती है। जैनविचारकों ने इस वैचारिक प्रदूषण से बचने के लिए मैत्री, करुणा, मुदिता (प्रमोद) और उपेक्षा (माध्यस्थ्य) वृत्तियों को अपनाने का निर्देश दिया है।[२३] इनके द्वारा चित्त में निर्मलता प्रतिष्ठापित हो जाती है और वैचारिक प्रदूषण मिट जाता है।

वैचारिक प्रदूषण-मुक्त लोक जीवन–जैन पुराणों के अनुसार सृष्टि व्यवस्था में अवसर्पिणी काल के प्रारम्भ में और उत्सर्पिणी काल के अन्त में सुषमा-सुषमा उपविभाग में मानव की उत्पत्ति युगल के रूप में होती है इसमें स्त्री-पुरुष का जोड़ा एक साथ ही जन्म लेता है और मरता है। उसे जीवन भर भोग साधन कल्पवृक्षों से प्राप्त होते हैं।[२४] उन्हें किसी प्रकार की कमी होती ही नहीं है, इसलिए उनमे वैचारिक प्रदूषण के उत्पन्न होने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सुषमा काल में भी यही स्थिति रही। कालान्तर में (तीसरे सुषम-दुषमा काल में) कल्पवृक्षों के समाप्त होने पर मनुष्य को अपने श्रम से भोगसाधन प्राप्त करने की आवश्यकता हुई। उस समय नाभिराय के पुत्र भगवान् ऋषभदेव ने असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प[२५] इन षट्कर्मों की समाज में प्रतिष्ठापना की। फलतः उस काल में भी लोकजीवन वैचारिक प्रदूषण से सर्वथा मुक्त रहा है। समाज के कुछ लोग असिजीवी (योद्धा) थे, तो दूसरे मषिजीवी (कर्णिक) थे। एक वर्ग कृषि पर आश्रित था, तो अन्य वर्ग वाणिज्य से अपनी जीविकायापन करता था। कुछ बुद्धिजीवी विद्या के प्रचार-प्रसार में संलग्न थे, तो अन्य कला की साधना में। सभी अपनी-अपनी साधना में लीन और उससे प्राप्त परिणामों से सन्तुष्ट थे। जैन पुराणों में इस स्थिति का विस्तार से वर्णन हुआ है।

जैन परम्परा में छः प्रकार के जीव माने गये हैं–पृथ्वीकायिक जीव, जलकायिक जीव, अग्निकायिक जीव, वायुकायिक जीव, वनस्पतिकायिक जीव और त्रसकायिक जीव। इन सब जीवों के प्रति पूर्ण रूप से संयम रखना ही अहिंसा है! किसी भी जीव को नहीं सताना, परिताप नहीं पहुँचाना, बलपूर्वक शासित नहीं बनाना और शोषण नहीं करना ये सब अहिंसा के पहलू हैं। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में सर्वविद्य पर्यावरण प्रदूषण के विविध प्रकारों का समष्टि रूप से संकेत करते हुए कहा है कि व्यर्थ ही पृथ्वी को खोदना, पानी को बिखेरना, अग्नि को जलाना, वायु को रोकना, वनस्पति का छेदन करना, स्वयं निष्प्रयोजन घूमना और दूसरों को भी निष्प्रयोजन घुमाना, यह प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्ड है।[२६] जब तक कोई विशेष प्रयोजन न हो, त्रस जीवों की भांति स्थावर जीवों को भी विराधना नहीं करनी चाहिए।

इस तथ्य को केन्द्र में रखकर ही भारतीय संस्कृति में प्रायः सभी परम्पराओं में प्रदूषण से बचने के लिए निर्विवाद रूप से स्वीकृत रहा है–

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेत् वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥[२७]

अर्थात् भूमि पर पग रखने से पहले भूमि का दृष्टि से विशोधन कर लिया जाये, प्रयोग से पूर्व जल को वस्त्र से छानकर दूषण रहित किया जाये, वाणी की पवित्रता सत्य से सुरक्षित की जाये और मन की पवित्रता से सम्पूर्ण आचरण को निर्दोष बनाया जाये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भूमि, जल, वायु आदि में औद्योगिक अथवा वैचारिक कारणों से उत्पन्न होने वाला पर्यावरण प्रदूषण ही अनन्त विपत्तियों और पीड़ाओं का कारण होता है। **'कारणाभावत् कार्याभावः'** इस दार्शनिक सिद्धान्त को चित्त में रखकर यदि लोक जीवन समस्त प्रकार के प्रदूषणों से मुक्त किया जा सके, तो समस्त पीड़ाओं का अभाव होने से जीवन के आनन्द की सीमा नहीं रहेगी।

सर्वविध पर्यावरण प्रदूषण-मुक्त अतएव आनन्दमय एवं मधुर लोक-जीवन की झांकी वैदिक कवि ने कामना के रूप में निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त की है–

मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।
मधु नक्तभुतोऽसो मधुमत्पार्थिवं रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता।
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमान् अस्तु सूर्य्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः।[२८]

अर्थात् सर्वतोभावेन पर्यावरण प्रदूषण मुक्त समाज इतना सन्तुष्ट और आनन्दित हो, जिससे प्रत्येक प्राणी यह अनुभव करे, मानों समस्त वायुमण्डल उसके लिए मधु की वर्षा कर रहा है, नदियां मधु की धारा प्रवाहित कर रही हैं, औषधियों से मधु का स्रवण हो रहा है। दिन-रात भी मधुमय हैं, पृथ्वी का कण-कण मधुमय है, द्युलोक में स्थित ग्रहमण्डल पिता के समान मधु रूपी स्नेह से सबको आप्लावित कर रहा है। वनस्पति, सूर्य, चन्द्र और गौवें सभी में माधुर्य का वितरण कर रही हैं।

क्यों न आज भी हम सकल लोक को पर्यावरण प्रदूषण से मुक्त कर इसी मधुमय सागर में अवगाहन करें।

पता :

साधना मन्दिर
९०, द्वारिकापुरी
मुजफ्फरनगर (उ. प्र.)-२५१ ००१

● ●

सन्दर्भ स्थल

१. पर्यावरण अध्ययन, पृ. ११ (डॉ. एस. सी. बंसल, डॉ. पी. के. शर्मा)

२. अग्ने गृहपतये स्वाहा सोमाय वनस्पतये स्वाहा, मरुतामोजसे स्वाहा, इन्द्रस्थेन्द्रियाय स्वाहा पृथिवी मातर्मा मा हिंसी, मो अहं त्वाम्।।यजुर्वेद, १०/२३।।

३. पद्मपुराण ४/४८, आदिपुराण २०/२६१-२६५, हरिवंशपुराण २/२१६-२२१

४. आचारांग १-२७, १-३४।

५. ऋषभदेव–न्यग्रोध, अजितनाभ-सप्तपर्ण, सम्भवनाथ-शाल, अनन्तनाथ-पीपल इत्यादि। द्रष्टव्य तिलोयपण्णात्ति ४,६०४-६०५, ९१६-९१८, ९३४-९४०

६. (क) स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूंजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानैः वन देवताभिः
।।रघुवंश।।२
(ख) उत्तररामचरित २/२९

७. आदिपुराण ३/२२-५४, हरिवंशपुराण ५/१६७, पाण्डवपुराण ४/२१३, तत्त्वार्थसूत्र ३/३७।

८. रघुवंश १४/४८, नैषधीयचरित १/१५, पंचतंत्र-मित्रभेद, पृ. २

९. क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा मांगल्यमाविष्कृतं
निष्ठ्यूतरचरणोपरागसुभगो लाक्षारसः केनचित्।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै–
र्दत्तान्याभरणानि नः किसलयोद्भदेप्रतिद्वन्द्विभिः
।। अभिज्ञान शाकुन्तल।।४/५

१०. आदिपुराण २२/२००-२०१

११. शकुन्तला-अस्ति मे सोदर स्नेहोऽप्येतेषु। अभिज्ञान शाकुन्तल, प्रथम अंक पृ. ४३

१२. (क) अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः
।।रघुवंश।।२/३६
(ख) कुमारसम्भव ५/१४

१३. अभिज्ञान शाकुन्तल ४/९

१४. जैनाचार्यों के संस्कृत पुराणसाहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन पृ. २०९।

१५. अमृतोऽपस्तरणमसि, अमृतापिधानमसि।
आश्वलायन –गृह्यसूत्र १/२४/२१-२२।

१६. रान्नो देवीरमिष्टये आपो भवन्तु पीतये। रां योरभि स्रवन्तु नः।
–यजुर्वेद ३६/१२

१७. आपो हि ष्ठा मयो भूवस्तान ऊर्जे दधातन। –वही, ३६/१४

१८. यो वः शिवतमो रसः तस्य भाजयतेह नः। वही, ३६/१५

१९. ओं सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनुं।
दीर्घायुत्वाय वर्चसे। *–पारस्कर गृह्यसूत्र २/१/९*

२०. स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टर
स्स्वशरीर संस्कारत्यागाः पञ्च। *–तत्त्वार्थसूत्र ७/७*

२१. ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद्भवती सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यंति।।
–श्रीमद्भगवद्गीता २/६२-६३

२२. वितर्का:हिंसादयः .... लोभमोहक्रोधपूर्वकाः मृदुमध्या:धिमात्राः ....
इति प्रतिपक्षभावनम्। *–योगसूत्र २/३४*

२३. (क) मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिक- क्लिश्यमानाा-
वित्यलेषु। *–तत्त्वार्थसूत्र ७/११*
(ख) मैत्रीकरुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःख पुण्यापुण्य विषयाणां
भावनातश्चित्त प्रसादनम्। *–योगसूत्र १/३३*

२४. आदिपुराण ३/२२-२४

२५. आदिपुराण १६/१७९, १८१-१८२

२६. (क) क्षितिसलिलदहन पवनाभ्यां विफलं वनस्पतिछेदं।
सरणं सारणमपि च प्रमादचर्या प्रभाषन्ते।
–रत्नकरण्डश्रावकाचार ३/३४, पृ. १६०
(ख) भूखननवृक्षमोट्टनशाद्वलदलनाम्बुसेचनादीनि।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयादीनि च।।
–पुरुषार्थसिद्धयुपायः, १४३
(ग) भूपय पवनाग्नीनां तृणादीनां च हिंसनम्।
यावत्प्रयोजनं स्वस्य तावत्कुर्यादयं तु यत्।।
–यशस्तिलकचम्पू ७/२६

२७. मनुस्मृति, ६/४६

२८. यजुर्वेद १३/२७-२९